



## बिहार में सामाजिक राजनीतिक चेतना का अन्तः सम्बन्ध

शम्भु नाथ सुमन  
बी० ए०, एम० ए० (इतिहास),  
शोध छात्र  
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, कामेश्वर नगर, दरभंगा.

### भूमिका

समाजशास्त्र के क्षेत्र में जाति पर होने वाले हालिया शोधों से ज्ञात होता है कि भारत में जाति की अर्थपूर्ण इकाइयां संस्कृत ग्रंथों में वणित अमूर्त वर्ण (सैद्धांतिक अखिल-भारतीय सोपान) न होकर विभिन्न स्थानीय जाति-समूह हैं। इनकी एकता का सूत्र विभिन्न कोटियों की व्यावसायिक पहचानें, सामान्य रीति-रिवाज, बहिर्विवाह और भोजन संबंधी निषेध हैं। यह पुरानी धारणा भी अब अमान्य हो चुकी है कि जातियों का सोपान अत्यंत कठोर एवं अपरिवर्तनीय होता था। कुछ पुराने और हाल ही के ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिन्हें एम.एन. श्रीनिवास 'संस्कृतीकरण' की प्रवृत्तियां कहते हैं-अर्थात् जातियां अपने से परंपरागत रूप से श्रेष्ठ जातियों के रीति-रिवाज एवं विधि-विशेष अपनाकर स्वयं भी श्रेष्ठता का दावा करती हैं। ब्रिटिश-पूर्व विधि-विशेष अपनाकर स्वयं भी श्रेष्ठता का दावा करती हैं। ब्रिटिश-पूर्व भारत में परिवर्तनशील राजनीतिक व्यवस्था के कारण अतिरिक्त भूमि के सुलभ होने और इस कारण प्रदेशांतरण के आसान होने के कारण जातियों में पर्याप्त गतिशीलता आई थी। उदाहरण के लिए मध्यकालीन बंगाल के सदगोप मूलतः चरवाहे गोप समुदाय के लोग थे, किंतु धीरे-धीरे वे बंगाल और व्यापारी बन गए। कभी-कभी तो इन्होंने अपनी स्थानीय हुकूमतें भी कायम कर लीं। अंग्रेजों के काल में जातिगत गतिशीलता के ये अवसर बंद या कम हुए तो अन्य मार्ग खुल भी गए। नए राज्यों का निर्माण असंभव हो गया था और परती भूमि दिनोदिन कम होती जा रही थी। किन्तु सुधरे हुए संचार-साधनों के लिए सामाजिक प्रोन्नति का नया सोपान सिद्ध हुई और, जैसाकि हम देख चुके हैं, उपनिवेशवाद ने विभेदीकरण की एक प्रक्रिया आरंभ की थी जिसमें कुछ समूहों को अन्य समूहों की किमत पर लाभ मिले। १९०१ की जनगणना के पश्चात् तो इसमें ब्रिटिश सरकार का सीधा योगदान भी रहा। प्रत्येक दशक के पश्चात् जातियों को 'देशी जनमत द्वारा मान्यताप्राप्त सामाजिक श्रेष्ठता के आधार पर' श्रेणीबद्ध किया जाता था। इसके परिणामस्वरूप तत्काल ही दावों और जवाबी दावों की बाढ़ आ जाती थी। विभिन्न जातियों के नेता अपनी-अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए लड़ने लगते, जातिगत समितियां संगठित करते और जातियों के पौराणिक इतिहास गढ़ने लगते। कहा जा सकता है कि इस नई परिस्थिति ने कम-से-कम दो प्रकार से जातिगत एकजुटता को प्रोत्साहित किया। किसी भी जाति के सफल नेताओं ने अनुभव किया कि सामाजिक मान्यता, नौककियां एवं राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के लिए उनके संकुचित एवं स्वार्थमय संघर्ष में बिरादरी के भाई-बंधुओं का समर्थन प्राप्त करना बहुत उपयोगी हो सकता है। १९८० के

दशक के बाद से चुनावी राजनीतिक क्रमशः समावेश के कारण इस प्रक्रिया को बहुत बल मिला। जहां तक किसी जाति के अपेक्षाकृत निर्धन सदस्यों का प्रश्न था, उनके पास अपने अधिक सफल बंधुओं की छत्रच्छाया में जीने के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं था।

इस सबका कुल परिणाम प्रायः सामाजिक-आर्थिक तनावों की अभिव्यक्ति होता था। ये तनाव अभिव्यक्त होते थे जातिगत एकता की झूठी चेतना, जातिगत प्रतिस्पर्धा और संस्कृतीकरण के आंदोलन के माध्यम से। उदाहरण के लिए बरनार्ड कोह द्वारा पूर्वी उत्तर प्रदेश के जौनपुर जिले के एक गांव का अध्ययन दर्शाता है कि किसी प्रकार यहां के चमार (जो अधिकांशतः काश्तकार या भूमिहीन श्रमिक होते थे) शिवनारायण संप्रदाय के उपदेशों से शांति पाते थे और ब्राह्मणों के आचारों (जैसे गोमांस न खाना का) अनुकरण करके अपनी सामाजिक स्थिति को उठाने का प्रयास करते थे। देश के दूसरे छोर पर केरल के अछूत इझवा नानु असन (श्रीनारायण गुरु, लगभग १८५४-१९२८) से प्रेरित होकर बीसवीं सदी के आरंभ से ब्राह्मणों के प्रभुत्व के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे, तथा मंदिरों में प्रवेश करने और अपने कुछेक रिवाजों के 'संस्कृतीकरण'- की मांग कर रहे थे। प्रसंगवश, आगे चलकर यही इझवा केरल में कमयुनिस्टों के सबसे प्रबल समर्थक बने। ई.एम.एस. "सामंतवाद के विरुद्ध किसानों के संघर्ष के आरंभिक रूप होती थीं", हालांकि साथ ही वे यह भी कहते हैं कि "यदि किसानों को एक वर्ग के रूप में संगठित करना है तो इनके जातिगत संगठन की अकड़ को तोड़ना होगा"।

### अम्बेडकर के आंदोलन का आधार

दक्षिण बिहार में पलामू के बारे में हार्डग्रेव का विस्तृत अध्ययन दर्शाता है कि किस प्रकार अछूत गछवाहों और खेत-मजदूरों ने, जो मूलतः शनान कहलाते थे, व्यापार के माध्यम से धन कमाकर एक उच्च वर्ग का निर्माण कर लिया था, और १९०१ की जनगणना में क्षत्रिय श्रेणी के अंतर्गत सम्मिलित किए जाने की मांग करने लगे थे। ये लोग अपने को नाडार भी कहने लगे थे। (नाडार नाम पहले केवल उन्हीं शनामों के लिए प्रयुक्त होता था जिनके पास भूमि थी और जो पामयर वृक्षों की खेती करते थे।) इनकी मंदिरों में प्रवेश के अधिकार की मांग को लेकर १८६६ में पलामू में गंभीर दंगे हो गए। इसी प्रकार उत्तरी बिहार के कहार जाती के लोग भी १८७१ से चंद्रवंशी क्षत्रियत्व का दावा करने लगे थे, अपने-आपको चंद्रवंशी क्षत्रिय कहने लगे थे, और विधवा-पूनर्विवाह पर निषेध जैसे ब्राह्मणों के आचारों का अनुकरण करने लगे थे। उन्नीसवीं सदी के अंत तक दक्षिण बिहार के महार जाति के लोगों ने भी, जो आगे चलकर अम्बेडकर के आंदोलन का आधार बने, अपने-आपको संगठित करना आरंभ कर दिया था। १८६४ में वलंगकर ने एक याचिका बनाई जिसमें कहारों को क्षत्रिय स्वीकार किए जाने और उन्हें सेना में अधिक नौकरियां दिए जाने की मांग की गई थी। अधिकांश कहार गांव में चौािदार, संदेशवाहक या खेतिहर का छोटा-मोटा काम करते थे। इनमें से कुछ के पारंपरिक पेशों के लिए ब्रिटिश शासन से खतरा उत्पन्न हो गया था। किन्तु एक समय ऐसा भी आया जब इन्हें सेना में सेवा के अवसर प्राप्त हुए। सैनिक भारती में उत्तर भारत की 'लड़ाकू जातियों' पर नए सिरे से बल दिए जाने से कहारों के संगठन के तात्कालिक प्रेरणा मिली। फिर भी, कुल मिलकर अधिक प्रभावशाली जातिगत आंदोलन वे थे जिनका संबंध मध्य जातियों, अर्थात् द्विजों एवं अछूतों के बीच होती थी, जो धनी कृषक थे, और जो शिक्षित शहरी समूह उत्पन्न करने में सक्षम थे। उन्नीसवीं सदी के अंत तक बिहार और बंगाल में सेवाओं एवं सामान्य सांस्कृतिक जीवन पर ब्राह्मण-विरोधी आंदोलनों का पहला बिगुल बिहार में १८७० के दशक में बजा।

आरंभिक या बाद के कालों में सर्वाधिक हिंसक विद्रोह आदिवासियों के ही रहे हैं। जिनके संबंध में हाल ही के एक लेखक का कहना है कि "कृषकों सहित किसी भी अन्य समुदाय की तुलना में ये अधिक करते थे और इनके विद्रोह अधिक हिंसक भी होते थे" (के. सुरेश सिंह)। यहां 'अदिवासी' शब्द का प्रयोग इस प्रकार के सामाजिक संगठनवाले लोगों को 'जाति' से भिन्न बताने के लिए किया गया है और अभिप्राय ऐसे लोगों से नहीं है जो पूर्णतः भारतीय जीवन की मुख्य धारा से कटे हुए हों। वस्तुतः कुछ अलग-थलग एवं सचमुच आदिम भोजन-संग्राहक लोगों को छोड़ दे तो आदिवासी जन समाज के निम्नतम स्तर पर रहनेवाले ऐसे लोग हैं जो पूर्णतः भारतीय समाज का अंग थे और हैं। ये अपना निर्वाह झूम खेती द्वारा, खेत-मजदूरों के रूप में और, अधिकाधिक, दूरदराज के बागानों, खदानों एवं कारखानों में कुली के रूप में करते रहे हैं।

ब्रिटिश राज एवं उससे संबद्ध वाणिज्यीकरण ने पहले से विद्यमान उन प्रवृत्तियों को सुदृढ़ किया जिनके फलस्वरूप बाहरी, मैदानी क्षेत्रों के लोग (साहूकार, व्यापारी, जमीन हथियानेवाले और ठेकेदार) आदिवासी क्षेत्रों में घुसते रहे हैं-यानी 'डिंकू लोग, जो संथालों की अतिशय घृणा के पात्र रहे हैं। पूर्णतः निजी संपत्ति की ब्रिटिश कानूनी धारणा ने सामूहिक स्वामित्व की परंपराओं को (जैसेकि छोटा नागपुर के खूंटकड़ी क्षेत्र में) ध्वस्त किया और आदिवासी समाज के भीतर के तनावों को तीव्र किया। अनेक आदिवासी क्षेत्रों (विशेष रूप से बिहार एवं असम के क्षेत्रों) में ईसाई मिशनरी सक्रिय थे जिन्होंने वहां शिक्षा-का प्रसार किया और सामाजिक सोपान में ऊंचा स्थान पाने की आशा भी उनमें जाग्रत की। किन्तु इसकी अनेक रोचक प्रतिक्रियाएं हुईं जिनमें वैरभाव के साथ ही कुछेक ईसाई सिद्धांतों को विदेश-विरोधी रूप में प्रयुक्त करने के प्रयास भी सम्मिलित थे। १८७० और १८८० के दशकों में अधिकाधिक महत्वपूर्ण होनेवाला एक तथ्य था-औनिवेशिक सरकार द्वारा, राजस्व की दृष्टि से, वन क्षेत्रों पर नियंत्रण कड़ा करना। झूम खेती, जिसके लिए हल चलाने की आवश्यकता नहीं थी, ग्रामीण समाज में गरीब-से-गरीब आदमी के लिए भी जीविका का साधन थी। १८६७ से आरक्षित वनों में झूम खेती को प्रतिबंधित या सीमाबद्ध कर दिया गया और इमारती लकड़ी एवं चाराई पर रोक लगाकर वन-संपत्ति पर एकाधिकार स्थापित करने के प्रयास किए गए।

इसके विरुद्ध पहले की भांति आदिवासियों की प्रतिक्रिया छिटपुट हिंसक विद्रोहों के रूप में तो प्रकट हुई ही, उनमें आंतरिक धार्मिक एवं सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार के आंदोलन भी आरंभ हुए। पुनरुज्जीवन के ये आंदोलन, जिनमें ईसाई अथवा हिन्दू धर्म को लेकर एक सुनहरं युग में चमत्कारीप्रवेश का वादा भी होता था, १८६० से १९२० तक की अवधि में अधिकाधिक लाक्षणिक होते गए, और ये प्रायः पारंपरिक मूर्खियों की अगुआई में होनेवाले विद्रोहों की असफलता के पश्चात् उठ खड़े होते थे। इस प्रकार १८५५ के संथाल विद्रोह के पश्चात् १८७० के दशक का खेरवाड़ अथवा सफाहार का आंदोलन उठा जो आरंभ में तो एकेश्वरवाद एवं सामाजिक सुधारों की शिक्षा देता था, किन्तु अपने दमन के ठीक पूर्व यह राजस्व-बंदोबस्ती की गतिविधियों के विरुद्ध एक अभियान का रूप भी लेने लगा था। सहस्त्रवाद (स्वर्ण युग में आस्था) कभी-कभी हिंसक रूप भी धारण कर लेता था। उदाहरण के लिए, १८६८ में धर्मराज्य करने के प्रयत्न में नायकड़ा वन्य जाति ने पुलिस थाने पर आक्रमण कर दिया था। इसी तरह संथाल परगना में १८८२ में सांबुदान नामक एक जादूगर के नेतृत्व में कुछ नागाओं ने अंग्रेजों पर आक्रमण कर दिया था। उसका दावा-था कि उसने जादू के बल पर अपने अनुयायियों को ऐसा बना दिया था कि गोलियां उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकती थीं। पुराने जिला गजेटियरों और मानववैज्ञानिक सर्वेक्षणों में ऐसी अनेक बातों का उल्लेख है, और कभी-कभी इन्हें पढ़कर मन उक विचित्र अनुभूति से द्रवित हो उठता है।

## परंपरावादी भारतीय समाज में आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना

परंपरावादी भारतीय समाज में आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना भारतीय राजनीति की एक अद्भुत विशेषता है। भारत में राजनीतिक आधुनिकीकरण के प्रारंभ होने के पश्चात् यह धारणा विकसित हुई कि पश्चिमी ढंग की राजनीतिक संस्थाएं और लोकतंत्रात्मक मूल्यों को अपनाने के फलस्वरूप पारंपरिक संस्था-जातिवाद का अंत हो जाएगा, किंतु स्वाधीनोत्तर भारत की राजनीति में जाति का प्रभाव अनवरत रूप से बढ़ता गया। जहां सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में जाति की शक्ति घटी है वहां राजनीति और प्रशासन पर इसके बढ़ते हुए प्रभाव को राजनीतिज्ञों, प्रशासनाधिकारियों और केंद्र एवं राज्य सरकारों ने स्वीकार किया है।

कतिपय विद्वानों की यह मान्यता है कि लोकतांत्रिक एवं प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की स्थापना के बाद जाति व्यवस्था का भारत में लोप हो जाना चाहिए। अन्य कुछ विद्वानों की धारणा थी कि जाति व्यवस्था परंपरागत शक्ति के रूप में कार्य करती है तथा राजनीतिक विकास एवं आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधक है। इस संबंध में राजनीति कोठारी का अभिमत है कि-प्रथम, कोई भी सामाजिक तंत्र कभी पूर्णतया समाप्त नहीं हो सकता, अतः यह प्रश्न करना कि क्या भारत में जाति का लोप हो रहा है, अर्थशून्य है। द्वितीय, जाति व्यवस्था आधुनिकीकरण और सामाजिक परिवर्तन में रुकावट नहीं डालती बल्कि इसको बढ़ाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। स्थानीय और राज्य स्तर की राजनीति में जातीय संघ और समुदाय निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करतक में उसी प्रकार की भूमिका अदा करते हैं जिस प्रकार पश्चिमी देशों में दबाव गुट। हमारे राजनीतिज्ञ एक अजीब असमंजस की स्थिति में हैं। जहां एक ओर वे जातिगत भेदभाव मिटाने की बात करते हैं वहीं दुसरी ओर जाति के आधार पर वोट बटोरने की कला में निपुणता हासिल करना चाहते हैं।

## जाति प्रथा एक सामाजिक कुरीति

जाति प्रथा किसी न किसी रूप में संसार के हर कोने में पायी जाती है, पर एक गंभीर सामाजिक कुरीति के रूप में यह हिन्दू समाज की ही विशेषता है। वैसे इस्लाम और ईसाई समाज भी इसके प्रभव से अछूते नहीं रह सके। यह व्यवस्था एक अति प्राचीन व्यवस्था रही है। इसका अभिप्राय पेशे के आधार पर समाज के कई भागों में बांट देना है। सामान्यतया यह माना जाता है कि जाति प्रथा की उत्पत्ति वैदिक काल में हुई। ब्राह्मण धार्मिक और वैदिक कार्यों का संपादन करते थे। क्षत्रियों का कार्य देश की रक्षा करना और शासन प्रबंध करना था। वैश्य कृषि और वाणिज्य संभालते थे तथा शूद्रों को अन्य तीन वर्णों की चाकरी करनी पड़ी थी। शुरू-शुरू में जाति प्रथा के बंधन कठोर न थे और वह जन्म पर नहीं अपितु कर्म पर आधारित थे। बाद में जाति प्रथा में कठोरता आती गयी, वह पूरी तरह जन्म पर आधारित हो गयी तथा एक जाति से दूसरी जाति में अंतःक्रिया असंभव हो गयी। अपने मौलिक रूप में जाति प्रथा उपयोगी थी। चूंकि वह श्रम विभाजन के सिद्धांत पर आधारित थी, अतः उसने आर्थिक क्षेत्र में निपुणता के तत्व का समावेश किया। एक जाति का पेशा उसी जाति में होता था। बेटा बाप से अपना पुश्तैनी पेशा सीखता था और प्रायः उसी का अपनी आजीविका से साधन के रूप में अपना लेता था। इसी प्रथा ने एक जाति और बिरादरी के लोगों में भाई-चारे की भावना को बढ़ाया। एक जाति के लोग एक-दूसरी से भली-भांति परिचित होते थे तथा एक-दूसरे के सुख-दुःख में का आते थे।

प्रो. घुरिये ने जाति व्यवस्था की छः विशेषताएं बतायी हैं जो इस प्रकार हैं:-

1. बिहार में जाति ऐसे समुदाय हैं जिसका अपना विकसित जीवन है और इसकी सदस्यता जन्म से निश्चित होती है।
2. बिहार का प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति जानता है और जातियों के पदसोपान में ब्राह्मण सबसे ऊपर माना जाता है।
3. जातियों के आधार पर खान-पान आकर सामाजिक आदान-प्रदान के प्रतिबंध लगे रहते हैं।
4. गांवों तथा शहरों में जाति के आधार पर पृथक्ता की भावना बनी रहती है।
5. कुछ जातियां कतिपय विशेष प्रकार के व्यवसायों को अपने पुश्तैनी अधिकार समझती हैं।
6. जातियों की परिधि में ही वैवाहिक आदान-प्रदान होता है और जातियां कई उपजातियों में विभक्त होती हैं। उप-जातियों में भी वैवाहिक परिसीमाएं हैं।

### स्वाधीनता संग्राम के दौरान जातिवाद का प्रभाव

स्वाधीनता संग्राम के दौरान ऐसा दीखता था कि जनता पर जातिवाद का प्रभाव कम हो रहा है, किंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत जातिवाद ने फिर जोर पकड़ा और वयस्क मताधिकार व्यवस्था के देश में लागू कर दिए जाने के परिणामस्वरूप यह एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उदित हुआ है। वैसे राजनीति पर जातिगत प्रभाव प्रतिनिधि व्यवस्था के लागू होने के समय से ही शुरू हो गया था, किंतु यह प्रभाव नगण्य ही था। इसके लिए उत्तरदायी थे ब्रिटिश प्रशासन, राष्ट्रीय आंदोलन तथा सीमित मताधिकार। स्वतंत्रता की प्राप्ति ने प्रथम दो कारणों का निराकरण कर दिया और नए संविधान में उपनायी गयी वयस्क मताधिकार व्यवस्था ने तीसरे का। फलतः जातियों के प्रभाव क्षेत्र में आशातीत वृद्धि हो गयी। आरंभ में तो सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से उच्च अथवा श्रेष्ठ जातियां ही राजनीति से प्रभावित रहीं और राजनीतिक लाभ उन्हीं तक सीमित रहे। समय के साथ-साथ मध्यम और निम्न समझी जाने वाली जातियां आगे आने लगीं और अपनी राजनीति प्रभाव को बढ़ाने में प्रयत्नशील रहने लगीं। प्रो. रूडोल्फ के शब्दों में, "भारत के राजनीतिक लोकतंत्र के संदर्भ में जाति वह धुरी है जिसके माध्यम से नवीन मूल्यों और तरीकों की खोज की जा रही है। यथार्थ में यह एक ऐसा माध्यम बन गयी है कि इसके जरिए भारतीय जनता को लोकतांत्रिक राजनीति की प्रक्रिया से जोड़ा जा सकता है।

### निष्कर्ष:-

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि एक ओर ब्राह्म-समाज के सार्वभौमिकता का पाठ पढ़ाया तो दूसरी तरफ भारतीय जनता को आर्य-समाज ने निर्भिकता, आत्म सम्मान एवं स्वराज्य का ऐसा पाठ पढ़ाया जिसको आधार बिंदु मानकर महात्मा गांधी ने ऐसा पाठ पढ़ाया जिसको आधार बिंदु मानकर महात्मा गांधी ने देश की आजादी का रास्ता तय कर दिया। ब्राह्म-समाज प्रेस की स्वतंत्रता वं यूरोपीय विचार धारा की क्रांतिकारी पक्ष से लोगों को वाकिफ करके लोगों में देशभक्ति, राष्ट्रीयता वं लोकतंत्र से लोगों को परिचित कराया तो दूसरी तरफ आर्य समाज ने राष्ट्रवाद की नूतन शैली वेद से अपनाकर अतीत के सोये हुए भारतीय गौरव को समनुत्त किया।

ब्राह्म-समाज ने अंग्रेजी शिक्षा पर बल देकर मध्यम वर्गीय भारतीयों में क्रांति की भावना का संचार किया और लोगों के हृदय में राष्ट्रवाद का बोध हुआ। दयानंद सरस्वती द्वारा स्थापित आर्य-समाज दयानंद को राष्ट्रीय चेतना का अग्रदूत बतलाया है। आज भले ही स्वामी जी का नश्वर शरीर हमारे बीच नहीं, किंतु उनकी महानता आर्य-समाज के रूप में आज भी जीवित है और दिनों

दिन प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो हर कदम पर महर्षि की दिव्य आत्मा उनका पथ-प्रदर्शन कर रही है। सचमुच में, दोनों महान सुधारकों ने देश की अरिमता की रक्षा के लिए जिस राष्ट्रवाद का प्रयाग किया वही राष्ट्रवाद महात्मा गांधी के समय में वृक्ष का रूप धारण कर दिया जिसके बल पर महात्मा गांधी ने देश को फिरंगियों से मुक्त कराने में सफलता मिली।

**संदर्भ श्रोत:-**

१. सर हैनरी काटन - न्यू इंडिया पृ० २७८
२. सीताराम शर्मा, उन्नीसवीं शती में भारतीय धार्मिक तथा सामाजिक जागरण पृ० ५५
३. प्रधान, इंडियाज स्ट्रगल फार स्वराज, पृ० ६२
४. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ५४१
५. विपिन चंद्र पाल, ब्राह्मों-समाज एंड बैटिल ऑफ स्वराज्य इन इंडिया, पृ० ३-५
६. लाला लाजपत राय, पूर्वोक्त, पृ० ४४
७. डॉ मजुमदार, ब्रिटिश परामाउन्टेसी एंड इंडियन रेनासा, भाग २, पृ० १०६
८. शिवनाथ शास्त्री, हिस्ट्री ऑफ ब्राह्मों समाज, पृ० ७२
९. ओमेल, मार्डन इंडिया एण्ड वेस्ट पृ० ६७-६८, एवं स्टूडीज बंगाल रेनसां, पृ० ५०८
१०. शिवनाथ शास्त्री, हिस्ट्री ऑफ ब्राह्मों-समाज, पृ० ७२
११. डॉ० वाष्णेय : आधुनिक साहित्य, पृ० १८०
१२. पंजाब जनगणना विवरण (अंग्रेजी) सन् १९११, पृ० १४८